

दिल्ली तक दिखेगा महाराष्ट्र का असर



राहुल कर्म

शिवसेना के बाद राकोंपा में विभाजन वाले ही एक राज्य की राजनीति का विषय है, लेकिन राष्ट्रीय राजनीति पर इसके निहितार्थों को नकारा नहीं जा सकता

विपक्षी एकता को लेकर बैठकों का दौर जारी है। ऐसे में राकोंपा में टूट की गूंज दूर तक सुनाई पड़ रही है। महाराष्ट्र के ही कांग्रेसी खेमे में भी खलबली की खबरें इसका संकेत करती हैं। इस प्रकार देखा जाए तो कांग्रेस-राकोंपा और शिवसेना से मिलकर बना महाविकास आघाड़ी गठबंधन अब धराशायी सा हो गया है। यदि ये तीनों पार्टियां पूरी मजबूती और एकजुटता के साथ चुनाव लड़तीं तब भाजपा के लिए राज्य में कठिनाई बढ़ सकती थी।

यह नहीं भूलना चाहिए कि उत्तर प्रदेश के बाद सर्वाधिक लोकसभा सीटें (48) महाराष्ट्र में ही हैं। न केवल लोकसभा चुनाव, बल्कि देश की सबसे समृद्ध नगर निकाय बीएमसी में भी भाजपा के लिए मुकाबला पहले के मुकाबले कुछ आसान होने के आसार हैं। महाराष्ट्र में लोकसभा के कुछ महीनों बाद ही विधानसभा चुनाव होने हैं। उन पर भी इस बदले हुए राजनीतिक घटनाक्रम की छाप अवश्य दिखाई देगी। वहीं, राष्ट्रीय स्तर पर सबसे बड़ा झटका तो राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन यानी राजग और भाजपा के विरुद्ध विपक्षी दलों की राजनीतिक गोलबंदी के प्रयासों को लगेगा। जनता को यही लगेगा कि जो पार्टियां आपस में एकजुट नहीं रह सकतीं वे भला किसी गठबंधन को कैसे टिकाऊ बना सकती हैं। खासतौर से शरद पवार खुद को बड़ी असहज स्थिति में पा रहे होंगे, क्योंकि उन पर विपक्षी एकता का बड़ा दारोमदार रहा है। विपक्षी खेमा उनके राजनीतिक अनुभव और संघर्षों का लाभ उठाने की उम्मीद लगाए बैठा था। अब उनके सामने अपनी खुद की पार्टी और चुनाव चिह्न को बचाने का चुनौती खड़ी हो गई है।



अपेक्ष राणापूर

जिस संकट से इस समय राकोंपा जुझ रही है, वह कोई नया नहीं है। पारिवारिक स्तर पर संचालित होने वाले राजनीतिक दलों में यह सिलसिला काफी पहले से चलता आया है। भारत ही नहीं, बल्कि समूचे दक्षिण एशिया में यही राजनीतिक परिपाटी दिखाई पड़ती है। यहाँ अधिकांश दल मुख्यतः एक परिवार पर केंद्रित हैं और उन्हें वहीं से नियंत्रित किया जाता है। इन दलों में समस्या अक्सर तभी उत्पन्न होती है जब शीर्ष नेतृत्व अवसर पर हो और पार्टी में उत्तराधिकार तय करने की स्थिति आती है। इसमें नेता प्रायः अपने रक्त संबंधी बेटे या बेटों को ही नेतृत्व की कमान सौंपते हैं। इससे वे लोग खुद को उपेक्षित महसूस करने लगते हैं, जिन्होंने पार्टी के शीर्ष तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होती है। चूंकि इन दलों में सुप्रीमो की बात ही अंतिम आदेश होती है तो एक स्तर पर विभाजन की स्थिति का उत्पन्न होना कोई हैरानी नहीं। हाल में विभाजित हुई शिवसेना इससे पहले भी राजनीतिक बंटवारा देख चुकी है। तब पार्टी में बर्दकाल डिविजन

यानी सीधा विभाजन तो नहीं हुआ था, लेकिन शिवसेना सुप्रीमो रहे बाल ठाकरे के भतीजे राज ठाकरे ने जब देखा कि पार्टी की कमान उड़व ठाकरे को सौंपी जा रही है तो उन्होंने शिवसेना से अलग होकर अपनी पार्टी बना ली। कालांतर में जब ऐसा लगने लगा कि उड़व ठाकरे अपने बेटे आदित्य ठाकरे को भविष्य के लिए तैयार कर रहे हैं तो एकनाथ शिंदे जैसे नेताओं का उनसे मोहभंग हो गया। जदएएम में एचडी देवेगौड़ा ने अपने बेटे कुमारस्वामी को बढ़ाया तो सिद्धरमैया पार्टी छोड़ गए। इसी प्रकार, लंबे समय तक मुलायम सिंह यादव के दाहिने हाथ की भूमिका निभाने वाले शिवपाल सिंह यादव को भी अखिलेश यादव के चलते कुछ ऐसा ही कदम उठाना पड़ा। चाचा-भतीजे में कभी मेल-मिलाप तो कभी मनमुटाव का सिलसिला जारी है। द्रमुक में पार्टी पर नियंत्रण के लिए खासा लंबा संघर्ष चला और अखिरकार एमके स्टालिन ने करुणानिधि की विरासत पर अपना दावा मजबूत किया। दरअसल, 2014 से पहले रक्त संबंधियों को सीधे नेतृत्व

हस्तांतरण अपेक्षाकृत आसान हुआ करता था, क्योंकि जिन नेताओं का मोहभंग होता था उन्हें राजनीतिक समायोजन के लिए वैसी अनुकूल स्थितियां नहीं मिलती थीं, जैसी इस दौर में मिल रही है। इसका प्रमुख कारण है कि भाजपा इन टकरावों का अपने राजनीतिक लाभ के लिए कहीं बेहतर तरीके से उपयोग कर रही है। भाजपा की इस रणनीति की काट क्षेत्रीय दलों को गंभीरतापूर्वक निकालनी होगी। अन्यथा राकोंपा जैसे विघटन होते रहेंगे।

भाजपा ने भले ही भ्रष्टाचार, वंशवाद और भाई-भतीजावाद को एक सफल राजनीतिक विमर्श के रूप में स्थापित किया है, लेकिन यहाँ मुद्दा भविष्य में उसके गले की फांस भी बन सकता है। राकोंपा का विभाजन इसका ताजा उदाहरण है। अजीत पवार के धड़े वाले विद्रोही गुट से गलबहियां करके यह मुद्दा भाजपा के हाथ से छिटक सकता है। अजीत पवार पर भ्रष्टाचार के आरोप तो रहे ही हैं, वह उसी वंशवादी राजनीति की देन हैं जिसका भाजपा विरोध करती आई है। ऐसे में अजीत पवार जैसे नेताओं को साथ लेकर भाजपा को भले ही कुछ तात्कालिक लाभ मिल जाए, मगर यह पार्टी की दीर्घकालिक रणनीति के लिए अनुत्पादक होगा। बाहर से नेताओं के आने से पार्टी में आंतरिक असंतोष भी उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि बाहरी नेताओं को खपाने के लिए कई बार पार्टी के मूल कार्यकर्ताओं को अपने हितों की बलि देनी पड़ती है। ऐसे में, भाजपा को भी दूसरे दलों में विभाजन के मुद्दे को 'आपदा में अवसर' बनाने के बजाय दूरगामी नुकसान के विषय में अधिक सोचना होगा।

(लेखक सेंटर फार पालिसी रिसर्च में फेलो हैं)

response@jagran.com